संपादकीय

जब जज को ही न्याय न मिले: व्यवस्था के कठघरे में खड़ा सिस्टम

लोकतंत्र में अदालतें उम्मीद की आखिरी सीढ़ी मानी जाती हैं। आम आदमी जब हर दरवाज़े से निराश हो जाता है, तब वह न्यायपालिका की ओर देखता है। लेकिन अगर उसी न्यायपालिका से जुड़ा एक न्यायाधीश अपनी ही व्यवस्था से न्याय न पा सके, तो यह केवल एक व्यक्तिगत त्रासदी नहीं रहती— यह पूरे सिस्टम की संवेदनहीनता का आईना बन जाती है। जया पाठक की मौत इसी सवाल को हमारे सामने खड़ा करती है।

यह कहानी सिर्फ एक जज की नहीं, एक मां की भी है। वर्ष 2017 में देहरादून के प्रेमनगर थाने में हुई एक घटना ने जया पाठक की पूरी ज़िंदगी बदल दी। बताया जाता है कि किसी छोटे से विवाद के बाद उनके बेटे रोहन को पुलिस थाने ले आई। आरोप है कि वहां उसके साथ मारपीट की गई। खबर मिलते ही जया पाठक थाने पहुंचीं। सामने जो दृश्य था, वह किसी भी मां के लिए असहनीय होता— बेटा पुलिस की लाठियों के बीच पिट रहा था।

उस पल अदालत की गरिमा, पद और नियम सब पीछे छूट गए। एक मां का आक्रोश सामने आया। जया पाठक ने विरोध किया, पुलिस से बहस हुई, धक्का-मुक्की हुई और मामला हाथापाई तक पहुंच गया। आरोप लगा कि उन्होंने पुलिसकर्मियों को थप्पड़ मारा। यही वह क्षण था जिसने पूरी कहानी की दिशा बदल दी।

थाने की उस रात की एक वीडियो क्लिप सामने आई। वीडियो में एक जज पुलिसकर्मियों से उलझती दिखाई दे रही थीं। लेकिन उस दृश्य के पीछे का दर्द, एक मां की घबराहट और बेटे को बचाने की बेचैनी कहीं दबकर रह गई। अगले ही दिन मामला मीडिया और प्रशासन की नजर में आया और जया पाठक खुद आरोपी के कटघरे में खड़ी कर दी गईं। इसके बाद शुरू हुआ लंबा और थका देने वाला संघर्ष। निलंबन, जांच, कानूनी प्रक्रियाएं और सामाजिक अपमान— यह सब उनकी ज़िंदगी का हिस्सा बन गया। जिस व्यक्ति ने अदालत में वर्षों तक न्याय दिया था, वही व्यक्ति अब अपने लिए न्याय मांग रहा था। लेकिन इस संघर्ष के दौरान जो सबसे ज्यादा चर्चा में रहा, वह था उनका अकेलापन। कहा जाता है कि घटना वाली रात उन्होंने कई अधिकारियों से संपर्क करने की कोशिश की। मदद की उम्मीद की, लेकिन निराशा हाथ लगी। सच जो भी हो, लेकिन यह तथ्य असहज कर देता है कि एक न्यायाधीश खुद को इतना असहाय महसूस कर सकता है। यदि व्यवस्था के भीतर काम करने वाला व्यक्ति ही खुद को असुरक्षित महसूस करे, तो आम नागरिक की स्थिति की कल्पना करना मुश्किल नहीं है।

इस पूरे मामले में कई सवाल हैं, जिनके जवाब अभी भी समाज खोज रहा है। क्या पुलिस की कार्रवाई उचित थी? क्या एक मां की प्रतिक्रिया को केवल अपराध की तरह देखा जाना चाहिए था? क्या व्यवस्था में संवाद और संवेदनशीलता की जगह खत्म हो चुकी है? यह भी सच है कि कानून सबके लिए बराबर होता है। चाहे वह आम नागरिक हो या न्यायाधीश— कानून को हाथ में लेना सही नहीं माना जा सकता। लेकिन कानून की प्रक्रिया का उद्देश्य केवल दंड देना नहीं, बल्कि न्याय सुनिश्चित करना भी होता है। जब प्रक्रिया ही कठोर और असंवेदनशील लगने लगे, तब न्याय का मूल भाव खोने लगता है। जया पाठक की मौत ने एक गहरी बेचैनी पैदा कर दी है। यह हमें सोचने पर मजबूर करती है कि क्या हमारे संस्थान इतने औपचारिक और कठोर हो चुके हैं कि उनमें मानवीय पीड़ा के लिए जगह नहीं बची? क्या सिस्टम के भीतर काम करने वाले लोग भी उसी सिस्टम के सामने असहाय हो सकते हैं? जया पाठक की कहानी हमें याद दिलाती है कि न्याय केवल अदालत के फैसलों में नहीं होता, बल्कि उस संवेदनशीलता में भी होता है जो हर इंसान की गरिमा को बचाए रखे। अगर एक जज की आवाज भी व्यवस्था में दब सकती है, तो यह चेतावनी है— सिर्फ न्यायपालिका के लिए नहीं, बल्कि पूरे लोकतांत्रिक ढांचे के लिए।

आजकल

न्यायिक निर्णय, जनमत और लोकतंत्र की कसौटी

हाल ही में न्यायालय के एक निर्णय के बाद ऐसी स्थिति बनी है कि चुनाव में पराजित प्रत्याशी को विजयी घोषित कर दिया गया, क्योंकि मूल विजेता ने नामांकन अथवा हलफनामे में आवश्यक जानकारी सही ढंग से प्रस्तुत नहीं की थी। इस प्रकार की घटनाएँ लोकतंत्र में एक महत्वपूर्ण बहस को जन्म देती हैं—क्या जनता द्वारा ठुकराए गए उम्मीदवार को न्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से प्रतिनिधि बनाना लोकतांत्रिक भावना के अनुरूप है?

भारतीय चुनाव व्यवस्था में पारदर्शिता और ईमानदारी सुनिश्चित करने के लिए उम्मीदवारों से अपनी आपराधिक पृष्ठभूमि, संपत्ति, शिक्षा आदि की पूरी जानकारी देना अनिवार्य है। यदि कोई प्रत्याशी यह जानकारी छिपाता है या गलत देता है, तो यह जनप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 और चुनावी आचार के सिद्धांतों का उल्लंघन माना जाता है। न्यायालय का दायित्व केवल जनमत को लागू करना ही नहीं, बल्कि चुनावी प्रक्रिया की शुचिता और कानून के पालन को भी सुनिश्चित करना है। इसलिए कई बार अदालत ऐसे मामलों में विजेता की जीत को निरस्त कर दूसरे प्रत्याशी को विजयी घोषित कर देती है। फिर भी यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि क्या ऐसी स्थिति में पराजित उम्मीदवार को सीधे विजेता घोषित करना जनता की मूल भावना के अनुकूल है। लोकतंत्र का मूल आधार जनादेश है। यदि मतदाताओं ने स्पष्ट रूप से किसी प्रत्याशी को नकार दिया था, तो बाद में उसे प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करना मतदाताओं के निर्णय से भिन्न प्रतीत हो सकता है। इस दृष्टि से कुछ विशेषज्ञों का मत है कि ऐसे मामलों में सीट को शून्य घोषित कर पुन: चुनाव कराना अधिक लोकतांत्रिक विकल्प हो सकता है, ताकि जनता को दोबारा अपना प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिले। दूसरी ओर, न्यायिक दृष्टिकोण यह भी मानता है कि यदि चुनाव प्रक्रिया में किसी प्रत्याशी की गलती सिद्ध हो जाती है और दूसरे उम्मीदवार के मत वैध रूप से दूसरे स्थान पर रहे हैं, तो उन्हें विजयी घोषित करना समय और संसाधनों की दृष्टि से व्यावहारिक समाधान हो सकता है। बार-बार चुनाव कराना प्रशासनिक और आर्थिक रूप से भी चुनौतीपूर्ण होता है।

निजी स्कूलों की मनमानी पर प्रशासन बेबस...

एनसीईआरटी अनिवार्यता के बावजूद अभिभावकों की जेब पर बोझ

सरकार और शिक्षा विभाग स्पष्ट रूप से यह निर्देश दे चुके हैं कि स्कूलों में एनसीईआरटी की किताबों का उपयोग किया जाए। इसका उद्देश्य यह है कि पूरे देश में एक समान और सस्ती शिक्षा सामग्री उपलब्ध हो सके। एनसीईआरटी की किताबें अपेक्षाकृत कम कीमत पर उपलब्ध होती हैं और उनका पाठ्यक्रम भी राष्ट्रीय स्तर पर तय किया गया होता है। इसके बावजूद निजी स्कूलों द्वारा निजी प्रकाशकों की किताबें कोर्स में शामिल की जा रही हैं। इन किताबों की कीमत कई गुना अधिक होती है। कई बार एक कक्षा की किताबों का सेट हजारों रुपये तक पहुंच जाता है।

देश में स्कूली शिक्षा को सुलभ और किफायती बनाने के उद्देश्य से सरकार ने एनसीईआरटी की पुस्तकों को अनिवार्य करने जैसे कई महत्वपूर्ण निर्णय लिए हैं। इन निर्णयों का उद्देश्य शिक्षा व्यवस्था में पारदर्शिता लाना और अभिभावकों पर पड़ने वाले अनावश्यक आर्थिक बोझ को कम करना है। लेकिन जमीनी स्तर पर स्थिति इससे बिल्कुल विपरीत नजर आती है। प्रदेश के कई शहरों में निजी स्कूलों की मनमानी इस कदर बढ़ गई है कि प्रशासन और स्कूल शिक्षा विभाग उनके सामने बौने साबित होते दिखाई दे रहे हैं।

एनसीईआरटी की किताबों को अनिवार्य किए जाने के बावजूद अधिकांश निजी स्कूल अपने पाठ्यक्रम में निजी प्रकाशकों की महंगी किताबें शामिल कर रहे हैं। इतना ही नहीं, कई स्कूल अभिभावकों को विशेष रूप से चिन्हित दुकानों से ही किताबें खरीदने का निर्देश दे रहे हैं। यह स्थिति सीधे-सीधे सरकारी नियमों का उल्लंघन है, लेकिन इसके बावजूद प्रशासनिक स्तर पर कोई ठोस कार्रवाई नहीं हो पा रही है।

सरकार और शिक्षा विभाग स्पष्ट रूप से यह निर्देश दे चुके हैं कि स्कूलों में एनसीईआरटी की किताबों का उपयोग किया जाए। इसका उद्देश्य यह है कि पूरे देश में एक समान और सस्ती शिक्षा सामग्री उपलब्ध हो सके। एनसीईआरटी की किताबें अपेक्षाकृत कम कीमत पर उपलब्ध होती हैं और उनका पाठ्यक्रम भी राष्ट्रीय स्तर पर तय किया गया होता है। इसके बावजूद निजी स्कूलों द्वारा निजी प्रकाशकों की किताबें कोर्स में शामिल की जा रही हैं। इन किताबों की कीमत कई गुना अधिक होती है। कई बार एक कक्षा की किताबों का सेट हजारों रुपये तक पहुंच जाता है। इससे अभिभावकों पर आर्थिक दबाव बढ़ता है और शिक्षा का खर्च लगातार बढ़ता जाता है।

सबसे गंभीर समस्या यह है कि कई निजी स्कूल अभिभावकों को किसी एक या दो चिन्हित दुकानों से ही किताबें खरीदने के लिए मजबूर करते हैं। स्कूल प्रबंधन द्वारा अभिभावकों को जो सूची दी जाती है, उसमें दुकानों के नाम भी बताए जाते हैं। इससे अभिभावकों के पास विकल्प ही नहीं बचता और उन्हें मजबूरी में वहीं से महंगी किताबें खरीदनी पड़ती हैं। सरकारी नियमों के अनुसार कोई भी स्कूल अभिभावकों को किसी एक दुकान से किताब खरीदने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। स्कूलों को केवल किताबों की सूची अपने नोटिस बोर्ड पर प्रदर्शित करनी होती है और उनकी कीमत भी स्पष्ट रूप से लिखनी होती है। लेकिन वास्तविकता यह है कि इन नियमों का पालन शायद ही कहीं होता दिखाई देता है। यह आश्चर्य की बात है कि प्रशासन और स्कूल शिक्षा विभाग को इन सभी गतिविधियों की जानकारी होने के बावजूद भी कार्रवाई नहीं हो रही है। कई बार अभिभावकों द्वारा शिकायतें भी की जाती हैं, लेकिन कार्रवाई का अभाव देखने को मिलता है। इससे निजी स्कूलों का मनोबल और बढ़ता जा रहा है।

प्रशासनिक अधिकारियों और जिला शिक्षा विभाग की जिम्मेदारी है कि वे इस प्रकार की अनियमितताओं पर सख्ती से कार्रवाई करें। यदि नियमों का पालन नहीं हो रहा है, तो संबंधित स्कूलों के खिलाफ दंडात्मक कदम उठाए जाने चाहिए। लेकिन वर्तमान स्थिति में प्रशासन निजी स्कूलों की मनमानी के सामने नतमस्तक नजर आ रहा है। अधिकांश निजी स्कूल केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड से संबद्ध होते हैं। सीबीएसई के भी स्पष्ट दिशा-निर्देश हैं कि स्कूल छात्रों पर अनावश्यक किताबों का बोझ नहीं डालेंगे और एनसीईआरटी पुस्तकों को प्राथमिकता दी जाएगी। इसके बावजूद कई स्कूल इन नियमों की अनदेखी कर रहे हैं। इसके साथ ही यह भी नियम है कि स्कूल तीन साल तक किताबों में बदलाव नहीं कर सकते। इससे अभिभावक पुराने छात्रों की किताबें दोबारा उपयोग कर सकते हैं और खर्च कम हो सकता है। लेकिन कई स्कूल हर साल नई किताबों की सूची जारी कर देते हैं, जिससे अभिभावकों को हर बार नया सेट खरीदना पड़ता है। एनसीईआरटी की किताबों की पर्याप्त उपलब्धता सुनिश्चित करना जिला शिक्षा अधिकारी की जिम्मेदारी होती है। यदि बाजार में किताबें आसानी से उपलब्ध होंगी, तो निजी स्कूलों को महंगी निजी किताबें लागू करने का अवसर कम मिलेगा।

लेकिन कई जगह यह देखा गया है कि एनसीईआरटी की किताबों की उपलब्धता समय पर नहीं होती। इस स्थिति का फायदा उठाकर निजी स्कूल निजी प्रकाशकों की किताबें लागू कर देते हैं। इसलिए जिला स्तर पर किताबों की उपलब्धता सुनिश्चित करना भी बेहद जरूरी है। इस पूरी व्यवस्था में सबसे अधिक नुकसान अभिभावकों को उठाना पड़ रहा है। बढ़ती फीस, महंगी किताबें और अन्य खर्चों के कारण शिक्षा का खर्च लगातार बढ़ता जा रहा है। मध्यम वर्ग और निम्न आय वर्ग के परिवारों के लिए बच्चों की पढ़ाई कराना एक बड़ी चुनौती बनता जा रहा है। कई अभिभावक मजबूरी में स्कूल की शर्तें मान लेते हैं, क्योंकि उन्हें डर होता है कि कहीं उनके बच्चों को स्कूल में परेशानी न हो। इसी कारण स्कूलों की मनमानी लगातार बढ़ती जा रही है। इस समस्या का समाधान तभी संभव है, जब प्रशासन और शिक्षा विभाग सख्ती से नियमों का पालन करवाएं। सबसे पहले उन स्कूलों की पहचान की जानी चाहिए, जो निजी किताबों को अनिवार्य कर रहे हैं या चिन्हित दुकानों से किताबें खरीदने का दबाव बना रहे हैं। ऐसे स्कूलों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई की जानी चाहिए।

इसके अलावा अभिभावकों के लिए शिकायत दर्ज कराने की सरल व्यवस्था भी बनाई जानी चाहिए। यदि शिकायतों पर तुरंत कार्रवाई होगी, तो स्कूलों की मनमानी पर अंकुश लग सकेगा। शिक्षा व्यवस्था का उद्देश्य बच्चों को बेहतर भविष्य देना है, न कि अभिभावकों पर आर्थिक बोझ बढ़ाना। एनसीईआरटी किताबों को अनिवार्य करने का निर्णय इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। लेकिन जब तक प्रशासन और शिक्षा विभाग सख्ती से नियमों का पालन नहीं करवाएंगे, तब तक निजी स्कूलों की मनमानी पर रोक लगाना मुश्किल होगा। जरूरत इस बात की है कि प्रशासन अपनी जिम्मेदारी निभाए और शिक्षा को व्यापार बनने से रोके। तभी अभिभावकों को राहत मिलेगी और शिक्षा व्यवस्था में पारदर्शिता और विश्वास कायम हो सकेगा।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

प्रदेश में लगातार हो रही आगजनी की घटनाएँ

अग्नि सुरक्षा की अनदेखी : प्यास लगने पर कुआँ खोदने की परंपरा

प्रदेश के कई शहरों में लगातार हो रही आगजनी की घटनाएँ यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि हमारे प्रशासनिक तंत्र में अभी भी 'प्यास लगने पर कुआँ खोदने' की परंपरा गहराई से मौजूद है। जब तक कोई बड़ी दुर्घटना नहीं हो जाती, तब तक न तो प्रशासन सक्रिय होता है और न ही व्यवस्थाओं को दुरुस्त करने की गंभीर कोशिश दिखाई देती है। लेकिन जैसे ही कोई भीषण अग्निकांड होता है, उसके बाद बैठकों का दौर, सर्वेक्षण, फाइलों की आवाजाही और नई योजनाओं की घोषणाएँ शुरू हो जाती हैं। दुर्भाग्य यह है कि कुछ समय बाद सब कुछ फिर से पुराने ढर्रे पर लौट आता है। हाल ही में प्रदेश के कई शहरों—ग्वालियर, भोपाल, इंदौर और अन्य स्थानों—में भीषण आगजनी की घटनाएँ सामने आई हैं। इन घटनाओं ने एक बार फिर अग्नि सुरक्षा व्यवस्थाओं की वास्तविकता उजागर कर दी है। शहरों की संकरी गलियाँ, अव्यवस्थित बाजार और बिना योजना के बने भवन आग की स्थिति में बड़ी चुनौती बन जाते हैं। कई स्थानों पर फायर ब्रिगेड की गाड़ियाँ घटनास्थल तक पहुँच ही नहीं पातीं। नतीजा यह होता है कि आग पर काबू पाने में देर हो जाती है और तब तक जान-माल का भारी नुकसान हो चुका होता है।

सबसे चिंताजनक बात यह है कि नगर निगम, फायर ब्रिगेड और संबंधित प्रशासनिक विभागों के पास इन समस्याओं का स्थायी समाधान करने की ठोस व्यवस्था नहीं दिखाई देती। जब भी कोई बड़ी दुर्घटना होती है, तब प्रशासनिक अमला सक्रिय होता है। सर्वेक्षण शुरू होते हैं, यह देखा जाता है कि किन गलियों में फायर ब्रिगेड पहुँच सकती है और कहाँ रास्ते चौड़े करने की जरूरत है। संभावित आगजनी वाले क्षेत्रों की सूची बनाई जाती है, लेकिन इन रिपोर्टों का भविष्य अक्सर फाइलों तक ही सीमित रह जाता है।

पिछले वर्ष कुछ अस्पतालों में आग लगने की घटनाओं और मरीजों की मौत के बाद सरकार ने अस्पतालों में फायर सिस्टम अनिवार्य करने के निर्देश दिए थे। इसी तरह स्कूलों, कोचिंग संस्थानों, बड़े शैक्षणिक परिसरों और व्यावसायिक बाजारों में भी अग्नि सुरक्षा उपकरणों को अनिवार्य किया गया। लेकिन इन निर्देशों के क्रियान्वयन की स्थिति बेहद कमजोर है। नगर निगम और संबंधित विभाग नियमित निरीक्षण करने में असफल साबित हो रहे हैं। कई संस्थानों में या तो फायर सिस्टम लगाए ही नहीं गए हैं या वे केवल औपचारिकता भर रह गए हैं। समस्या केवल उपकरणों की कमी तक सीमित नहीं है। शहरों की योजना और संरचना भी बड़ी चुनौती है। कई पुराने बाजार और आवासीय क्षेत्र इतने घने और अव्यवस्थित हैं कि आपातकालीन सेवाओं का वहाँ पहुँचना मुश्किल हो जाता है। इन क्षेत्रों में न तो पर्याप्त चौड़ी सड़कें हैं और न ही पानी के स्रोतों की उचित व्यवस्था। ऐसी स्थिति में जब आग लगती है, तो आग बुझाने का काम बेहद कठिन हो जाता है।

इसके अलावा फायर ब्रिगेड विभाग की संसाधन क्षमता भी सीमित है। कई शहरों में फायर स्टेशनों की संख्या कम है, आधुनिक उपकरणों का अभाव है और कर्मचारियों की भी कमी बनी रहती है। गर्मियों के मौसम में आग लगने की घटनाएँ बढ़ जाती हैं, लेकिन इसके बावजूद पूर्व तैयारी का अभाव दिखाई देता है। यदि समय रहते उपकरणों की खरीद, कर्मचारियों का प्रशिक्षण और संवेदनशील क्षेत्रों की पहचान कर ली जाए, तो कई बड़ी घटनाओं को टाला जा सकता है।

जनता की भूमिका भी इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है। कई बार भवन निर्माण के दौरान सुरक्षा मानकों की अनदेखी की जाती है। बाजारों में अवैध निर्माण और अतिक्रमण से रास्ते संकरे हो जाते हैं, जिससे आपातकालीन सेवाओं का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। बिजली के तारों की अव्यवस्थित व्यवस्था भी आग लगने का बड़ा कारण बनती है। यदि नागरिक और प्रशासन दोनों मिलकर जिम्मेदारी निभाएँ, तो जोखिम को काफी हद तक कम किया जा सकता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि आगजनी की घटनाओं के बाद सक्रिय होने की बजाय पहले से तैयारी की जाए। नगर निगम, फायर विभाग और सरकार को मिलकर एक व्यापक रणनीति तैयार करनी होगी। संवेदनशील क्षेत्रों का स्थायी सर्वे, नियमित निरीक्षण, आधुनिक उपकरणों की उपलब्धता और सख्त नियमों का पालन सुनिश्चित करना जरूरी है। साथ ही जनजागरूकता अभियान चलाकर लोगों को भी आग से बचाव के उपायों के प्रति जागरूक करना होगा।

यदि अब भी प्रशासन ने अपनी कार्यप्रणाली नहीं बदली, तो 'प्यास लगने पर कुआँ खोदने' की यह परंपरा आगे भी जारी रहेगी और हर साल आगजनी की घटनाओं में जान-माल की क्षति होती रहेगी। समय की मांग है कि प्रतिक्रियात्मक नहीं, बल्कि सक्रिय और दूरदर्शी नीति अपनाई जाए, ताकि प्रदेश के शहर सुरक्षित बन सकें और भविष्य में ऐसी त्रासदियों को रोका जा सके।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

गेहूं पर राहत और गैस पर बढ़ोतरी

वैश्विक तनाव के बीच आम आदमी और किसानों की चुनौती

मध्यप्रदेश में एक ओर राज्य सरकार किसानों को राहत देने की कोशिश कर रही है, तो दूसरी ओर केंद्र स्तर पर घरेलू रसोई गैस की कीमतों में बढ़ोतरी ने आम उपभोक्ताओं की चिंता बढ़ा दी है। प्रदेश के मुख्यमंत्री डॉ. मोहन यादव ने जहां गेहूं उत्पादक किसानों को राहत देने के लिए कई घोषणाएं की हैं, वहीं केंद्र सरकार द्वारा घरेलू एलपीजी सिलेंडर पर लगभग 60 रुपये की बढ़ोतरी ने महंगाई के नए संकेत दे दिए हैं। इस घटनाक्रम को वैश्विक हालात से जोड़कर भी देखा जा रहा है, क्योंकि पश्चिम एशिया में चल रहे तनाव का असर ऊर्जा बाजार पर पड़ना स्वाभाविक है।

मध्य प्रदेश सरकार ने हाल ही में गेहूं खरीदी को लेकर किसानों के हित में कई फैसले लिए हैं। मुख्यमंत्री मोहन यादव ने किसानों को बेहतर समर्थन मूल्य, बोनस और खरीद व्यवस्था को मजबूत करने की दिशा में कदम उठाए हैं। इससे प्रदेश के लाखों गेहूं उत्पादक किसानों को आर्थिक राहत मिलने की उम्मीद है। कृषि प्रधान राज्य होने के कारण मध्य प्रदेश की अर्थव्यवस्था में गेहूं का महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसे में सरकार का यह कदम किसानों की आय बढ़ाने और खेती को लाभकारी बनाने की दिशा में सकारात्मक माना जा रहा है। सरकार का तर्क है कि यदि किसानों को उनकी फसल का उचित मूल्य मिलेगा, तो ग्रामीण अर्थव्यवस्था भी मजबूत होगी।

दूसरी ओर घरेलू रसोई गैस की कीमतों में लगभग 60 रुपये की वृद्धि ने आम परिवारों के बजट को प्रभावित किया है। भारत में पहले ही रसोई गैस की कीमतें कई परिवारों के लिए चुनौती बनी हुई हैं। अब इस नई बढ़ोतरी के बाद मध्यम वर्ग और गरीब तबके पर अतिरिक्त आर्थिक बोझ पड़ना तय माना जा रहा है। विशेषज्ञों का मानना है कि गैस की कीमतों में वृद्धि केवल रसोई तक सीमित नहीं रहती, बल्कि इसका असर कई अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ता है। होटल, छोटे उद्योग, ढाबे और खाद्य व्यवसाय भी गैस पर निर्भर होते हैं, इसलिए उनकी लागत बढ़ने से उपभोक्ताओं को भी अधिक कीमत चुकानी पड़ सकती है।

पश्चिम एशिया में लंबे समय से तनाव की स्थिति बनी हुई है। खासकर ईरान, इजरायल और अमेरिका के बीच बढ़ते राजनीतिक और सैन्य तनाव ने वैश्विक ऊर्जा बाजार को प्रभावित किया है। यह क्षेत्र दुनिया के प्रमुख तेल और गैस आपूर्ति क्षेत्रों में से एक है। जब भी यहां अस्थिरता बढ़ती है, तो अंतरराष्ट्रीय बाजार में कच्चे तेल और गैस की कीमतों में तेजी देखने को मिलती है।

भारत अपनी ऊर्जा जरूरतों का बड़ा हिस्सा आयात करता है। इसलिए अंतरराष्ट्रीय बाजार में कीमतें बढ़ने का सीधा असर देश के पेट्रोल, डीजल और गैस की कीमतों पर पड़ता है। इसी कारण विशेषज्ञों का मानना है कि गैस सिलेंडर की कीमतों में हुई यह बढ़ोतरी भविष्य में आने वाली संभावित महंगाई का संकेत भी हो सकती है।

ऊर्जा विशेषज्ञों का कहना है कि अगर वैश्विक स्तर पर तनाव जारी रहा और कच्चे तेल की कीमतें बढ़ती रहीं, तो आने वाले समय में पेट्रोल और डीजल के दाम भी बढ़ सकते हैं। ऐसा होने पर परिवहन लागत में वृद्धि होगी और इसका सीधा असर बाजार में मिलने वाले रोजमर्रा के सामानों की कीमतों पर पड़ेगा। परिवहन महंगा होने से सब्जियां, अनाज, दूध और अन्य आवश्यक खाद्य पदार्थों के दाम भी बढ़ सकते हैं। यानी महंगाई की एक श्रृंखला शुरू हो सकती है, जिसका असर आम आदमी की जेब पर पड़ेगा।

जहां एक ओर किसानों को राहत देने की कोशिश की जा रही है, वहीं दूसरी ओर ऊर्जा की बढ़ती कीमतें उपभोक्ताओं के लिए चिंता का विषय बन सकती हैं। ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में रसोई गैस अब जीवन का जरूरी हिस्सा बन चुकी है। ऐसे में कीमतों में लगातार बढ़ोतरी लोगों के घरेलू बजट को असंतुलित कर सकती है। विशेष रूप से मध्यम वर्ग और निम्न आय वर्ग के परिवारों के लिए यह स्थिति चुनौतीपूर्ण हो सकती है। उन्हें पहले से ही बढ़ती महंगाई के बीच अपने खर्चों का संतुलन बनाए रखना पड़ रहा है।

वर्तमान परिस्थितियों में सरकारों के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वे किसानों को राहत भी दें और उपभोक्ताओं पर पड़ने वाले बोझ को भी कम करने की कोशिश करें। विशेषज्ञ मानते हैं कि ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों को बढ़ावा देना, सब्सिडी की प्रभावी व्यवस्था और बाजार की निगरानी जैसे कदम इस दिशा में मददगार हो सकते हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि एक तरफ किसानों को राहत देने की पहल सकारात्मक कदम है, लेकिन दूसरी तरफ गैस सिलेंडर की कीमतों में बढ़ोतरी ने महंगाई को लेकर नई चिंताओं को जन्म दे दिया है। आने वाले समय में यह देखना महत्वपूर्ण होगा कि सरकार किस तरह किसानों और आम उपभोक्ताओं दोनों के हितों के बीच संतुलन स्थापित कर पाती है।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

आदिवासी छात्रों की छात्रवृत्ति पर डाका

जब खेत की बाड़ ही फसल खाने लगे

मध्यप्रदेश में आदिवासी छात्रों को शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ाने के लिए सरकार द्वारा चलाई जा रही छात्रवृत्ति योजना का उद्देश्य बेहद स्पष्ट और सराहनीय है— गरीब और वंचित आदिवासी विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता देकर उन्हें मुख्यधारा की शिक्षा से जोड़ना। लेकिन जब इस योजना को लागू करने वाला तंत्र ही भ्रष्टाचार की दलदल में धंस जाए, तो सवाल उठना लाज़मी है कि आखिर उन मासूम विद्यार्थियों का भविष्य कौन बचाएगा, जिनके नाम पर योजनाएं बनती हैं।

दरअसल, 'खेत की बाड़ ही फसल खाने लगे' जैसी कहावत इन दिनों मध्यप्रदेश के आदिम जाति कल्याण विभाग पर बिल्कुल सटीक बैठती नजर आ रही है। 2017 से 2019 के बीच हुई एक ऑडिट रिपोर्ट ने जो खुलासे किए हैं, वे न केवल चौंकाने वाले हैं, बल्कि व्यवस्था की साख पर गंभीर सवाल भी खड़े करते हैं। ऑडिट में सामने आया है कि प्रदेश के पांच जिलों—सतना, भोपाल, ग्वालियर, जबलपुर और सागर—में आदिवासी छात्रों को दी जाने वाली छात्रवृत्ति की करीब एक करोड़ रुपये की राशि विद्यार्थियों के खातों में जाने के बजाय किसी और के खातों में ट्रांसफर हो गई। सरकार की योजना साफ थी कि छात्रवृत्ति सीधे विद्यार्थियों के बैंक खातों में भेजी जाए, ताकि बिचौलियों और भ्रष्टाचार की गुंजाइश खत्म हो। लेकिन यहां तो पूरी व्यवस्था को ही चकमा दे दिया गया।

जांच में पता चला कि कुछ शैक्षणिक संस्थानों ने छात्रों के खातों की जगह अपने या अन्य खातों की जानकारी विभाग को दे दी। जब कोषालय से छात्रवृत्ति की राशि ट्रांसफर हुई, तो वह सीधे विद्यार्थियों तक पहुंचने के बजाय इन संस्थानों के खातों में चली गई। यह केवल एक प्रशासनिक चूक नहीं, बल्कि सुनियोजित भ्रष्टाचार का संकेत देता है। सवाल यह है कि इतने लंबे समय तक यह खेल चलता रहा और किसी अधिकारी को भनक तक नहीं लगी।

मामला तब उजागर हुआ जब प्रधान महालेखाकार के दल ने संबंधित भुगतान की ऑडिट की। ऑडिट के दौरान यह चौंकाने वाला तथ्य सामने आया कि छात्रवृत्ति की राशि उन खातों में जा रही थी, जिनका छात्रों से कोई लेना-देना ही नहीं था। यह खुलासा अपने आप में बताता है कि सिस्टम में कहीं न कहीं गंभीर लापरवाही या मिलीभगत मौजूद थी, क्योंकि छात्रवृत्ति जैसी संवेदनशील योजना में बैंक खातों की जांच और सत्यापन एक अनिवार्य प्रक्रिया होती है। यदि यह प्रक्रिया सही ढंग से अपनाई गई होती, तो इतनी बड़ी गड़बड़ी संभव ही नहीं थी।

सबसे बड़ा और चिंताजनक सवाल यही है कि जब केवल पांच जिलों की ऑडिट में लगभग एक करोड़ रुपये की गड़बड़ी सामने आई है, तो यदि मध्यप्रदेश के सभी 55 जिलों की जांच हो जाए, तो भ्रष्टाचार का यह आंकड़ा कई सौ करोड़ रुपये तक पहुंच सकता है। आदिवासी छात्रों के नाम पर चलने वाली योजनाएं अक्सर भ्रष्ट तंत्र का आसान शिकार बन जाती हैं, क्योंकि इन योजनाओं के लाभार्थी दूरदराज के गांवों में रहने वाले गरीब परिवार होते हैं। उन्हें यह तक पता नहीं चलता कि उनके नाम पर सरकार से पैसा आया भी था या नहीं। यही वजह है कि कुछ लालची अधिकारी और संस्थाएं इस अज्ञानता का फायदा उठाकर सरकारी खजाने को लूटने में लगे रहते हैं।

मध्यप्रदेश सरकार की मंशा आदिवासी छात्रों को शिक्षा के माध्यम से सशक्त बनाने की है। छात्रवृत्ति जैसी योजनाएं इसी सोच का हिस्सा हैं। लेकिन जब विभाग के भीतर बैठे कुछ भ्रष्ट तत्व ही इन योजनाओं को पलीता लगाने लगें, तो सरकार की मंशा भी कठघरे में खड़ी हो जाती है। इस मामले के सामने आने के बाद जनजाति कार्य विभाग के आयुक्त ने जांच करवाने की बात कही है, लेकिन सवाल यह है कि क्या केवल जांच की घोषणा से समस्या हल हो जाएगी। जरूरत इस बात की है कि इस पूरे मामले की गहराई से पड़ताल हो और यह पता लगाया जाए कि इस घोटाले में कौन-कौन शामिल है—कौन अधिकारी, कौन कर्मचारी और कौन संस्थान। यदि सचमुच छात्रों की छात्रवृत्ति में इस तरह की हेराफेरी हुई है, तो यह केवल वित्तीय घोटाला नहीं, बल्कि सामाजिक अपराध है। क्योंकि यह पैसा उन गरीब आदिवासी छात्रों का था, जिनके लिए यह छात्रवृत्ति शिक्षा का सहारा बन सकती थी। कई छात्र ऐसे भी होंगे जो आर्थिक तंगी के कारण पढ़ाई छोड़ने को मजबूर हो गए होंगे, जबकि उनके नाम पर सरकार ने छात्रवृत्ति जारी की होगी। इसलिए इस मामले में केवल औपचारिक जांच या कागजी कार्रवाई से काम नहीं चलेगा। दोषियों की पहचान कर उनके खिलाफ कड़ी से कड़ी कार्रवाई करनी होगी।

इस तरह की घटनाओं को रोकने के लिए छात्रवृत्ति वितरण प्रणाली को और अधिक पारदर्शी और तकनीकी रूप से मजबूत बनाने की जरूरत है। आधार आधारित सत्यापन, बैंक खातों की डिजिटल जांच और नियमित ऑडिट जैसी व्यवस्थाएं लागू करनी होंगी। साथ ही छात्रों और उनके अभिभावकों को भी यह जानकारी दी जानी चाहिए कि उनके खाते में कितनी राशि आई है और कब आई है। आदिवासी छात्रों के भविष्य से जुड़ी योजनाओं में भ्रष्टाचार केवल आर्थिक नुकसान नहीं, बल्कि सामाजिक अन्याय भी है। यदि सच में शिक्षा के माध्यम से आदिवासी समाज को मुख्यधारा से जोड़ना है, तो सबसे पहले उन लोगों पर लगाम लगानी होगी, जो योजनाओं को लूट का माध्यम बना रहे हैं। क्योंकि जब खेत की बाड़ ही फसल खाने लगे, तो फसल का बचना लगभग असंभव हो जाता है। यदि समय रहते इस पर सख्त कार्रवाई नहीं हुई, तो यह घोटाला केवल पांच जिलों तक सीमित नहीं रहेगा, बल्कि पूरे प्रदेश में आदिवासी छात्रों के भविष्य को निगलने वाला एक बड़ा भ्रष्टाचार बन जाएगा।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)